

संत कबीर-काव्य में भारतीय संस्कृति की अभिव्यक्ति

डॉ करुणा शर्मा

मानवतावादी, लोक कल्याणकारी और उच्च स्तर की चेतना से संपन्न संत कबीर हिंदी साहित्य जगत के वे चमकते हुए नक्षत्र हैं जिनकी चमक आज लगभग छह सौ वर्षों के बाद भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। उनका सारा जीवन सत्य की खोज और असत्य के खंडन में बीता। 'मसि कागद छूओ नहीं, कलम गहि नहीं हाथ।' के अनुसार वे पढ़े-लिखे तो नहीं थे लेकिन उनके द्वारा कही गई यह उक्ति 'तू कहता कागद की लेखी। मैं कहता आँखिन की देखी।' सिद्ध करती है कि उन्होंने जो कुछ कहा, अपने अनुभव के आधार पर कहा। अपने परिवार के साथ रहते हुए, चरखा चलाकर कमाई गई आजीविका-अर्जन से परिवार का पालन करते हुए अर्थात् एक सद्गृहस्थ के कर्तव्यों का पूर्ण रूप से निर्वहन करते हुए आध्यात्मिकता के शिखर पर पहुँचना संत कबीर के जीवन की महान उपलब्धि थी। ऐसे 'संत कबीर के काव्य में भारतीय संस्कृति की अभिव्यक्ति' पर विचार करने से पूर्व संस्कृति शब्द को समझ लेना अपेक्षित होगा।

संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा की 'सम्' धातु से बना है। इस धातु से तीन शब्द बनते हैं-प्रकृति अर्थात् मूल स्थिति, संस्कृति अर्थात् परिष्कृत स्थिति तथा विकृति अर्थात् अवनत स्थिति। जब प्रकृत पदार्थ परिष्कृत किया जाता है तो यह संस्कृत हो जाता है और जब यह बिगड़ जाता है तो विकृत हो जाता है। लैटिन भाषा के कल्ट अथवा कल्टस शब्द से अंग्रेजी में आया कल्चर शब्द का एक अर्थ विकसित करना अथवा परिष्कृत करना भी होता है। यदि संक्षेप में इसका अर्थ करें तो हम कह सकते हैं कि संस्कृति संस्कारित करती है, शोधित करती है, परिष्कृत करती है।

संस्कृति किसी देश की आत्मा होती है। इससे उन संस्कारों का बोध होता है जिनके सहारे वह देश सामूहिक या सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है। इसमें धर्म, ज्ञान, विश्वास, रीति-रिवाज, कला, आदर्श, नियम आदि सभी बातें आ जाती हैं

जिन्हें इन वर्गों में बाँटा जा सकता है-धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन, समाज संगठन, राजनीति, आर्थिक तंत्र, लोकविश्वास, आस्थाएं तथा मान्यताएं, ललित कलाएं आदि। इन तत्वों से किसी भी देश की, किसी काल-विशेष में संस्कृति का ज्ञान होता है।

भारतीय संस्कृति सदैव मानवतावादी और उदारतावादी रही है। यह अध्यात्म और चिंतन की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। भारतीय संस्कृति के लचीलेपन में जब भी जड़ता की स्थिति निर्मित होती है, तभी कोई न कोई महापुरुष इसे गतिशीलता प्रदान कर इसकी सहिष्णुता को एक नई आभा से मंडित कर देता है जैसे शंकराचार्य, गुरुनानक, चैतन्य महाप्रभु, स्वामी विवेकानंद आदि। यही काम मध्यकाल में संत कबीर ने किया। भारतीय संस्कृति में आई जड़ता को कबीर ने अपनी अनुभवसिद्ध वाणियों से गतिशीलता प्रदान कर उसे एक नई आभा से महिमामंडित किया।

किसी प्रबंध काव्य में तत्कालीन संस्कृति की जैसी स्पष्ट अभिव्यक्ति हो सकती है, वैसी किसी मुक्तक काव्य में संभव नहीं हो पाती। कबीर ने मुक्तक काव्य की रचना की है, अतः उनके काव्य में संस्कृति की स्पष्ट रूपरेखा तो देखने को नहीं मिलती तथापि कहीं प्रत्यक्ष रूप में और कहीं प्रसंगवश तत्कालीन संस्कृति के स्वरूप की झांकी देखने को अवश्य मिलती है।

कबीर का ज्ञान वेदादि धर्म-ग्रंथों पर आधारित नहीं था अपितु स्वयंसंवेद्य था। वे किसी प्राचीन व्यवस्था में नहीं बँधे थे अपितु अपनी वैयक्तिक अनुभूति के सहारे निर्भीकतापूर्वक अपने समय की सामाजिक विकृतियों के सुधार में लगे रहे। उनके काव्य में समाज के विभिन्न पहलुओं का वर्णन अपने आप आ गया है। यद्यपि वे निर्लिप्त थे तथापि चारों ओर व्याप्त पाखंडपूर्ण वातावरण से स्वयं को विलग नहीं रख सके। संत कबीर के समय में ईश्वर को पाने के लिए अनेक प्रकार के धार्मिक आडंबर, अंधविश्वास, बहुदेवोपासना, मूर्तिपूजा, अनेक प्रकार

डॉ करुणा शर्मा, दिल्ली

Karunajee1957@gmail.com

के जप-तप, अनेक प्रकार की साधनाएं, साथ ही विविध प्रकार का आडंबरयुक्त आचरण देखे जा रहे थे। मूर्ति पूजा अपने चरम पर थी मूर्ति की मंदिरों में प्रतिष्ठा की जाती थी, उन पर लड्डू, लपसी आदि मिष्ठाननों का भोग लगाया जाता था और जो चढ़ावा चढ़ाया जाता था, मंदिर का पुजारी मूर्ति के मुख से छुआकर अपने घर ले जाता था-

पांहुण केरा पूतला, करि पूजै करतार।

लाडू लावण लापसी, पूजा चढै अपार।

पूजि पुजारा ले गया दे मूरति कै मुहि छार।

उन्होंने इन सब विकृतियों को अपने काव्य में वर्णित तो किया ही है किंतु इन विकृतियों को दूर करने के लिए तत्कालीन समाज को भारतीय संस्कृति के अनुरूप संस्कारित भी किया। जब उन्होंने देखा कि ईश्वर प्राप्ति के लिए लोग विभिन्न प्रकार का आडंबरयुक्त आचरण कर रहे हैं तो उन्होंने अत्यंत सरल जनवाणी में अपने विचारों को कुछ यों अभिव्यक्त किया-

ज्यों नैनन में पूतरी, त्यों मालिक घर मांहि।

मूरख लोग न जानिए, बाहर दूढत जाहिं।।

अर्थात् जैसे नेत्रों में पुतली रहती है, वैसे ही ईश्वर तुम्हारे शरीर में ही विराजमान है, उसे खोजने के लिए बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है।

भारतीय संस्कृति की एक विशिष्टता पुनर्जन्म और कर्मफल में कबीर स्वयं भी अटूट विश्वास रखते थे। वे एक स्थान पर कहते हैं-

पूरब जनम हम ब्राँह्मन होते, वोछै करम तप हीनाँ।

रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हा।।

अर्थात् पहले जन्म में मैं एक ब्राह्मण था, लेकिन निम्न कोटि के कर्म करने के कारण और ईश्वर की सेवा न करने के कारण ही मुझे जुलाहे के रूप में जन्म लेना पड़ा।

संत कबीर को प्रभु-अनुकंपा प्राप्त हो गई थी, इसके पीछे भी वह पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम मानते हैं। नियति पर भी उन्हें पूरा विश्वास था। जो भाग्य में लिख गया है, वह करोड़ों उपायों के द्वारा न मासे भर घटाया जा सकता है और न बढ़ाया ही जा सकता है। उसे तो भोगना ही पड़ेगा।

करम करीमाँ लिखि रहया, अब कछू लिख्या न जाइ।

मासा घटे न तिल बधौ, जो कोटिक करौ उपाइ।।

वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था जो भारतीय समाज का मेरूदंड रही, अब जाति-व्यवस्था में परिवर्तित हो गई थी। इसके परिणामस्वरूप अनेकानेक जातियाँ अस्तित्व में आ गई थीं। यद्यपि कबीर स्वयं वर्ण और जाति व्यवस्था के धुर विरोधी थे, फिर भी अपनी समकालीन जातियों और उद्योग-धंधों का यथा प्रसंग वर्णन किया है। कबीर ब्राह्मण, कुम्हार, धोबी, नाई, बढई,

कसाई आदि के व्यवसायों को एक पद में उल्लेख करते हुए कहते हैं-

कुंमरा हवै करि वासन घरिहु, धोबी हवै मल धोऊं।

चमरा हवै करि रंगौ अधौरी, जाति पाँति कुल खोऊं

तेली हवै तन कोल्हूँ करिहौं, पाप पुनि दोऊ पीरौं।

पंच बैल जब सूध चलाऊँ, राम जेवरिया जोरूँ।

क्षत्रि हवै करि खड्ग सँभालूँ, जोग जुगति दोउ साधूँ।

नऊवा हवै करि मन को मूँदूँ, हवै बाढ़ी कर्म बाढ़ूँ।

अवधू हवै करि यहु तन धूतौ, बधिक हवै मन मारूँ।

बनजारा हवै करि तन कूँ बनिजूँ, जुवारी हवै जम हारूँ।

कबीर स्वयं भी जुलाहा थे, उनके काव्य में जुलाहा जाति

और उसके वस्त्र बुनने के व्यवसाय का उल्लेख अनेक बार मिलता है। जीवन भर उन्होंने इस जाति के धर्म को संपादित किया, 'झीनी-झीनी रे बीनी चदरिया'।

भारतीय संस्कृति की कर्म आधारित वर्ण-व्यवस्था धीरे-धीरे जन्म आधारित हो गई थी और फिर यह सैंकड़ों जातियों और उपजातियों में विभाजित हो गई। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण तो उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित हो गए और शूद्रों की स्थिति बहुत निम्न और दयनीय हो गई। इस व्यवस्था को देख संत कबीर का हृदय बहुत द्रवित हो उठा। वे चाहते थे कि अति शीघ्र समाज को इस व्यवस्था से मुक्ति मिले। उनका मानना था कि ईश्वर की दृष्टि में सभी एक समान हैं और एक ही ज्योति से सबकी उत्पत्ति हुई है। वे कहते हैं-

एक बूंद एकै मलमूत्र, एक चम्म एक गूदा।

एक ज्योति थैं सब उत्पन्ना, कौन बाम्हन कौन सूदा।

वे यह भी मानते थे कि ईश्वर यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान है। कोई ऐसा जीव नहीं, कोई ऐसा स्थान नहीं, जहाँ ईश्वर की उपस्थिति न हो। अपनी एक साखी में वे यही बात वर्णित करते हैं-

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।

फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तत्त कहै गियानी।।

भारतीय संस्कृति के मूलतत्त्व 'प्रेम' को उनके काव्य में पर्याप्त अभिव्यक्ति मिली है। वे कहते हैं कि चाहे कोई कितने ही शास्त्रों का अध्ययन कर ले, वह पंडित नहीं हो सकता। जो ढाई अक्षर वाले 'प्रेम' शब्द को गहराई से पढ़ लेगा, वही पंडित होगा-

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।

ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।।

'प्रेम' तत्व को महत्व देने वाली अनेक साखियाँ उनके काव्य में देखी जा सकती हैं।

भारतीय संस्कृति में तो गुरु का अनन्य स्थान है। आध्यात्मिकता का शिखर बिना गुरु की सहायता के नहीं पाया जा सकता, यह बात संत कबीर ने अत्यंत प्रारंभ में ही समझ ली थी। इसीलिए उन्होंने उस समय के महान गुरु स्वामी रामानंद को गुरुरूप में स्वीकार किया। उन्होंने लिखा भी है-

हम कासी में प्रगट भए हैं, रामानंद चेताए।

गुरुमहिमा का अपने जीवन पर प्रभाव को देखकर ही उन्होंने गुरु को ईश्वर से भी बड़ा माना। उनका यह दोहा तो पढ़े-लिखे और अनपढ़ सभी को कंठस्थ है-

गुरु गोविंद दोउ खड़े काके लागू पांय।

बलिहारी गुरु आपणे, गोविंद दियो बताय।

अपनी एक साखी में वे लोगों को यह बताते हुए भी देखे जा सकते हैं कि सद्गुरु को पाना अत्यंत कठिन काम है। अगर उसे पाने के लिए शीश का बलिदान भी करना पड़े तो भी उसे सस्ता सौदा ही समझना चाहिए-

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।

शीश दियो जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान।

स्वयं कबीर ने गुरु पाने के लिए अनेक बाधाओं का सामना किया था।

ईश्वर का सतत स्मरण ही मनुष्य को दुखों से मुक्ति दिला सकता है, इस बात को लोगों को वे इस प्रकार समझाते हैं-

दुख में सुमिरन सब करै सुख में करे न कोय।

जो सुख में सुमिरन करै तो दुख काहे को होय।।

भारतीय संस्कृति में निर्गुण और सगुण भक्ति पर पर्याप्त बल दिया गया है। यद्यपि कबीर निर्गुण भक्त कवि के रूप में स्वीकार्य हैं तथापि उनकी निर्गुण भक्ति की यात्रा सगुण की प्रतीकात्मकता से ही पूर्ण होती है-

दुलहिनी गावहु मंगलाचार।

हम घरि आए हो राजाराम अवतार।

तन रत करि मैं मन रति करिहूँ, पंच तत बराती।

रामदेव मोरै पाहुनै आए, मैं जोबन मैं माती।

सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा बेद उचार।

रामदेव संगि भाँवरि लैहूँ, धनि धनि भाग हमार।।

कबीर ने किसी विषय को केंद्रित कर अपने काव्य की रचना नहीं की। वे तो सहज प्रतिभा संपन्न मनमौजी कवि थे। आध्यात्मिक भावना पर आधारित इस पद में भारतीय संस्कृति के वैवाहिक संस्कार का भी पूरा आनंद लिया जा सकता है। सौभाग्यवती स्त्रियों का विवाह के अवसर पर मंगलगान गाना, द्वार पर बारात का आना, बारातियों का स्वागत-सत्कार, बेदी बनाना आदि वैवाहिक कर्म आज भी किए जाते हैं।

अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन भी उनके काव्य में देखा जा सकता है। हिंदुओं में जब किसी की मृत्यु हो जाती है, तो उस अवसर पर मृतक के लिए कफन बनाना, पिंड दान के लिए आटा सानना, खाली हांडी में अग्नि लेकर मृतक को लेकर भाई-बंधुओं का श्मशान लेकर जाना आदि का वर्णन इस साखी में हुआ है-

पांच गज दोवटी मांगी, चून लीयौ सांनि।

बैसंदर पोषरी हांडी, चलयै लादि पलानी।।

कपाल क्रिया, पिंडदान, गंगा में अस्थि विसर्जन, श्राद्धादि के समय ब्राह्मणों और कौओं को भोजन खिलाना आदि रस्मों पर बात करते हुए संत कबीर ने उनके खोखलेपन को भी पहचाना था।

कबीरकालीन समाज में पर्दा प्रथा तो थी लेकिन सभी स्त्रियाँ पर्दा नहीं करती थीं। अविवाहित कन्या का श्रृंगार करना अशोभनीय माना जाता था। कबीर ने कहा भी है,

कबीर कन्या करै स्यंगार, सोच न पावै बिन भरतार।

उस समय पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पति का नाम नहीं लेती थीं। वे पति को संबोधित करने के लिए 'ननद के भाई' कहती थीं जैसे

कातौंगी हजरी का सूत, नणद के भइया की सौं।

अपनी बात की प्रामाणिकता के लिए वे अपने पति की शपथ लेती थीं। उस समय सती प्रथा तो विद्यमान थी लेकिन हर स्त्री सती हो ऐसा भी आवश्यक नहीं था। लेकिन जिसके पति की मृत्यु हो जाती थी, वह स्त्री किसी प्रकार का श्रृंगार नहीं कर सकती थी। पति की मृत्यु पर सती होने की इच्छा रखने वाली स्त्री अपने सभी सौभाग्य सूचक चिह्नों को एकत्र करके, हाथ में सिंदूर पात्र 'सिंधौरा' लेकर अपने सती होने के संकल्प को बताती थी।

अब तो जरें बरें बनि आवै, लीन्हों हाथ सिंधौरा।

संत कबीर के समय समाज में उच्च, मध्य और निम्न वर्ग थे। समाज में एक ओर वैभव-विलास की भरमार थी तो दूसरी तरफ दैन्य और निर्धन लोगों का करुण क्रंदन। वे कहते हैं-

एकनि दीना पाट पटंबर, एकनि सेज निवारा।

एकनि दीनी गरै गूदरी, एकनि सेत पयारा।।

कबीर के काव्य में तत्कालीन अर्थ तंत्र की स्पष्ट झांकी मिलती है। उनके काव्य में ऐसे अनेक प्रसंग आए हैं जिनसे तत्कालीन उद्योग-धंधों का, व्यापार का, लोगों के रहन-सहन का पता चलता है। उनके समय में आजीविका के तीन साधन थे-कृषि, विभिन्न धंधे तथा व्यापार। उनकी रचनाओं में कृषि की भूमि, सिचाई फसल की रक्षा, खेती में काम आने वाले

औजारों आदि का उल्लेख मिलता है। उद्योग-धंधों में रुई का उद्योग, मदिरा-निर्माण, मिट्टी के बरतन आदि बनाने का उद्योग, लुहारी, सुनारी, कपड़ा रंगने का व्यवसाय, सिकलीगिरी अर्थात् अस्त्रों और औजारों पर धार या सान चढ़ाने अथवा कलाई करने का काम, कसाई का धंधा, पान बेचने, कपड़े धोने और इस्त्री करने का व्यवसाय, माली आदि का वर्णन मिलता है। रंगरेज मंजीठ का रंग कपड़े पर चढ़ाता था, वह रंग बहुत पक्का होता था और धोने पर भी छूटता नहीं था बल्कि और भी चमकदार हो जाता था। कपड़े रंगने के व्यवसाय का प्रतीकात्मक चित्रण करते हुए कबीर कहते हैं-

सतगुरु है रंगरेज, चूनर मेरी रंगि डारी।
स्याही रंग छुड़ाइ के रे, दियो मजीठ रंग।
धोये से छूटै नहीं रे, दिन दिन होत सुरंग।
भाव के कुंड नेह के जल में, प्रेम रंग दई बोर।।

लोकविश्वास, मान्यताएं और आस्थाएं किसी भी संस्कृति की रीढ़ होती हैं। कबीर के काव्य में हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक, पौराणिक और लोक प्रचलित विश्वासों और रूढ़ियों का चित्रण मिलता है। उस काल में कुछ ऐसी मान्यताएं और आस्थाएं प्रचलित थीं जो जन जीवन में ऐसे समा गई थीं कि उन्हें ही लोगों ने अपने जीवन का सब कुछ मान लिया था।

सामान्य लोक में यह विश्वास भी प्रचलित है कि अच्छे कर्मों से स्वर्ग और बुरे कर्मों से नरक मिलता है और ऐसा ही इस्लाम धर्म में भी माना जाता है। कलमा, रोजा, नमाज, जकात और हज करने वाला तो जन्नत में जाता है और इनसे विमुख रहने वाला दोजख में जाता है-

रोजा करै निवाज गुजारै कलमैं भिसत न होई।

यद्यपि कबीर ने हिंदू और मुस्लिम संप्रदायों में प्रचलित इस मान्यता का खंडन किया है। कबीर काल में अवतारवाद पर भी लोगों का विश्वास था। इसके साथ ही पूजा के भी विभिन्न प्रकार प्रचलित थे। अवतार संबंधी कई कथाओं का उल्लेख उनके काव्य में मिलता है-

राम कृष्ण अवतार हैं, इनकी नांही मांड।

जिन साहिब सृष्टि किया, किनहूँ न जाया रांड।

संत कबीर के समय में यह विश्वास प्रचलित था कि काशी में मरने पर स्वर्ग और मगहर में मरने पर नरक मिलता है। लेकिन कबीर का मानना था कि यदि काशी में मरने पर मुक्ति मिल जाए तो लोग मोक्ष के लिए राम से प्रार्थना क्यों करें-

लोका मति के भोरा रे।

जो कासी तन तजै कबीरा, तौ रामहि कहा निहोरा रे।

उनके काव्य में भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग ज्योतिष,

तंत्र-मंत्र पर विश्वास, शकुन विचार आदि का भी वर्णन मिलता है। दक्षिण दिशा में कुत्ते का भूकना शुभ शकुन माना जाता है-

दखिन कूट जब सुनहां भूका, तब हम सगुन विचारा। जैसे अनेक वर्णन देखे जा सकते हैं।

ललित कलाएं किसी देश की उच्च स्तरीय अभिरुचि तथा उसकी सांस्कृतिक परंपरा की उत्तम निदर्शक हुआ करती हैं। वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला एवं नृत्यकला आदि का बहुत कम वर्णन कबीर के काव्य में मिलता है। उनके काव्य से हमें इस बात की जानकारी अवश्य मिलती है कि उनके समय में साधारण लोगों के मकान ईट-पत्थर के बने होते थे जबकि राजा, मंत्री आदि के विशिष्ट भवन होते थे। गांवों में लोग चूने और मिट्टी से बने मकानों में रहते थे। हिंदुओं में मूर्ति कला का प्रचलन था। देवमूर्तियां अधिकांशतः पत्थर और मिट्टी की बनी होती थीं। कबीर ने चित्रकार के तरह-तरह के चित्रों का उल्लेख किया है-

चचा चरित चित्र है भारी, तजि विचित्र चेतहुँ चितकारी।

संगीतकला की जानकारी भी कबीर के काव्य में मिलती है-

सातों सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग।

संगीत के विभिन्न यंत्र जैसे दमामा, निशान, शहनाई, नगाड़े, ढोल, दुगदुगी, वीणा, मंदल, रबाब भेदी, तुरही आदि का प्रयोग उनके काव्य में देखने को मिलता है। नृत्यकला के बारे में कबीर के काव्य में कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता। नर्तक के लिए वे नट शब्द का प्रयोग करते हैं।

भारतीय सांस्कृतिक मूल्य भी उनके काव्य-संसार में कदम-कदम पर खोजे जा सकते हैं। किसी भी बात की अति मानव जीवन के लिए दुख का कारक बन जाती है, इस बात को वे बड़ी ही सरल भाषा में समझा भी देते हैं, साथ ही इस संदेश को भी बड़ी कुशलता से प्रेषित कर देते हैं कि अति से सर्वदा बचना चाहिए-

अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप।

अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप।

वाणी ऐसी बोलनी चाहिए जो तुम्हें भी आनंदित करे और दूसरों को भी।

ऐसी वानी बोलिए मन का आपा खोय।

औरन को सीतल करै आपुहि सीतल होय।

भारतीय संस्कृति में इस बात पर बल दिया गया है कि दूसरों के मूल्यांकन से पहले व्यक्ति को आत्म मूल्यांकन करना चाहिए। कबीरदास ने इस बात को अपने जीवन में भी उतारा, तभी तो वे कह पाए-

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिल्या कोय ।
जो मन देखा आपणा, मुझसे बुरा न कोय ।
जब वे दूसरे व्यक्तियों को अन्य लोगों पर हँसते हुए देखते
हैं तो वे उन पर व्यंग्यात्मक कटाक्ष करते हुए कहते हैं—
दोस पराए देखि करि चला हसंत हसंत ।
अपने याद न आवई जिनका आदि न अंत ।।
वे लोगों को इस बात के लिए भी शिक्षित करते हैं कि
कभी किसी को अपने से हीन मानकर उसकी निंदा नहीं करनी
चाहिए—
तिनका कबहुँ न निंदिए, जो पाँव तरि होए ।
कबहुँ उड़ि आँखन परि, पीर घनेरी होए ।।
वे संसार की क्षणभंगुरता का अनुभव करने के पश्चात
बड़े ही सरल उदाहरण से लोकभाषा में इस प्रकार अभिव्यक्ति
प्रदान करते हैं—
माली आवत देखि करि कलियन करी पुकार ।
फूलि फूलि चुन लई काल्हि हमारी बार ।।

धर्म का निवास कहाँ है, पाप कब होता है, काल कब आ
जाता है और स्वयं ईश्वर कहाँ रहता है, इतनी सारी बातों का
वर्णन एक साखी में कबीर जैसा व्यक्तित्व ही कर सकता है—
जहाँ दया तहाँ धर्म है, जहाँ लोभ तहाँ पाप ।।
जहाँ क्रोध तहाँ काल है, जहाँ क्षमा तहाँ आप ।
ऐसे अनेकानेक सांस्कृतिक तत्वों से कबीरदास का काव्य
संसार भरा पड़ा है।
इस प्रकार कहा जा सकता है कि संत कबीरदास जैसे
कवि युगों-युगों में कभी-कभी जन्म लेते हैं। उनके स्वयं के
जीवन में भारतीय संस्कृति रची-बसी थी, इसीलिए भारतीय
संस्कृति के विविध रूपों को उनके काव्य में पर्याप्त अभिव्यक्ति
मिली है। इस से यह भी सिद्ध हो जाता है कि जनजीवन से
उनका घनिष्ठ संबंध था। चाहे वह आध्यात्मिकता की बात करते
हैं या समाज सुधार की, उनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति
स्वतः ही प्रस्फुटित हो उठी है।